इकाई 23 अनुसूचित जनजातियां

इकाई की रूपरेखा

23.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आप:

- अनुसूचित जनजातियों या आदिवासियों का वर्णन कर सकेंगे,
- अनुसूचित जनजातियों में आंतरिक भेद का चित्रण कर सकेंगे,
- आदिवासियों के कल्याण के लिए किए गए संवैधानिक प्रावधानों और उपायों पर रोशनी डाल सकेंगे,

- आदिवासियों के महत्वपूर्ण सामाजिक आंदोलनों के बारे में बता सकेंगे,
- आदिवासियों में अभिजात वर्ग की भूमिका पर प्रकाश डाल सकेंगे, और
- उभरते सामाजिक स्तरीकरण में जनजातियों की स्थिति के बारे में बता सकेंगे।

23.1 प्रस्तावना

समाज-विज्ञान संबंधी साहित्य में जनजाति या आदिवासी शब्द का प्रचलन खूब होने के बावजूद उसे वैज्ञानिक कठोरता और स्पष्टता से परिभाषित नहीं किया गया है। इसका प्रयोग आज भी सामाजिक गठन के नाना प्रकार के स्वरूपों और प्रौद्योगिक-आर्थिक विकास के स्तरों वाली प्राक्साक्षर संस्कृतियों की कुछ खास श्रेणियों के वर्णन के लिए किया जा रहा है। इसे समाजों के विकास वृत्त में एक चरण के साथ-साथ एक राज्यहीन समाज के रूप में लिया जाता है, जिसके गठन का आधार नातेदारी का विस्तृत ताना-बाना है, जो इसे बहुप्रकार्यात्मक समूह बनाता है।

इसकी कुछ सतही और आनुभाविक विशेषताएं बताई जाती हैं, जो इस प्रकार हैं:
i) समांगता, ii) पार्थक्य और अस्वांगीकरण, iii) क्षेत्रीय अखंडता, iv) अनूठी पहचान के प्रति चेतना, v) सर्व-व्यापी जीवात्मवादी धर्म (हालांकि यह अब निष्क्रिय हो गया है), vi) शोषक वर्गों और संगठित राज्य तंत्र की अनुपस्थिति, vii) नातेदारी संबंधों की बहुप्रकार्यात्मकता, viii) सामाजिक-आर्थिक इकाई का सखंड स्वरूप और ix) सामूहिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बारंबार सहयोग। इन विशेषताओं के अलावा उसमें ऐसे अनेक अस्पष्ट आनुभाविक बाह्य गुण भी पाए जाते हैं, जिनमें पिछली एक सदी से कोई बदलाव नहीं आया है, हालांकि गैर-आदिवासी समाजों में इस काल में भारी परिवर्तन हुआ है। इससे हम अपवाद और नियम की दुविधा में फंसे रह जाते हैं। इसलिए इसमें आश्चर्य नहीं कि अनेक गंभीर आलोचक यह बता चुके हैं कि जनजाति शब्द सैद्धांतिक बंद गली में आकर रुक गया है, और वैचारिक रूप से उसमें हेर-फेर किया जा सकता है।

बहरहाल, जनजातियों में समांगता और समानता की धारणा यूं भी महत्व खोती जा रही है क्योंकि हर जगह महिलाओं, दासों और अजनबियों को इस समानता के दायरे से बाहर रखा जाता है। वंशक्रम पर आधारित समाजों में भी हमें विवाह, विशिष्ट वस्तुओं के आदान-प्रदान और पुर्नवितरण की प्रक्रिया पर नियंत्रण के रूप में आर्थिक और राजनीतिक असमानताएं नजर आती हैं। भारत के संदर्भ में, जहां कि औनिवेशिक शासन से पहले जनजाति का पर्याय विद्यमान नहीं था, वहां भी अनेक अध्ययनों में आदिवासियों में भूमि पर भेदकारी नियंत्रण, श्रम के योगदान, बेशी उत्पादन, व्यावयायिक विविधता, इत्यादि विशेषताएं देखी गई हैं। इसी प्रकार भौगोलिक-पार्थक्य भी एक कोरा मिथक है। उदाहरण के लिए गोंड जनजाति के लोग आठ राज्यों में, भील सात राज्यों में, कांधा और साओरा छः राज्यों में और ओरांव पांच राज्यों में और अन्य 20 जनजातियों के लोग चार राज्यों में पाए जाते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से आदिवासियों और वृहत्तर समाज के बीच अन्योन्य-क्रिया खासकर इन उपरोक्त राज्यों में निरंतर चलती रही है, हालांकि इसका धरातल असमान रहा है। जहां तक राज्य के गठन की बात है, मध्य भारत के आदिवासी क्षेत्र और पूर्वोत्तर भारत में मध्योत्तर काल में कई गैर आदिवासी आरंभिक राज्य विद्यमान थे। इसलिए यह धारणा भ्रांतिपूर्ण है कि आदिवासी समाज ऐतिहासिक और अपरिवर्तनशील, सांस्कृतिक पिछड़ेपन में रह रहा है।

भारतीय शोधकर्ताओं के लिए इस शब्द की व्याख्या करना मानो निषिद्ध है। मगर हम चाहें जो भी प्रतिमान अपनाएं, इस व्याख्या में अनेक अनुसूचित जनजातियां आदिवासी के संबोधन से बाहर निकल जाएंगी। इसलिए आदिवासी सीधे-सीधे उन लोगों को कहा जाता है

जो अनुसूचित जातियों की सूची में दर्ज हैं। यूं तो इस कानूनी शब्दावली और श्रेणीकरण को भारतीय समाजशास्त्रीय अनुसंधान में बिना किसी आपत्ति के स्वीकार कर लिया गया है, लेकिन भारतीय संविधान में इसकी कोई परिभाषा नहीं दी गई है। इसका अनुच्छेद 342(1) सिर्फ यही व्यवस्था देता है कि राज्य के गवर्नर से परामर्श करने के बाद भारत का राष्ट्रपति आदिवासियों और आदिवासी सम्प्रदायों या उनके समूहों के किसी धड़े को अनुसूचित जनजाति का दर्जा दे सकता है।

संविधान की इसी व्यवस्था के अनुसार 1950 में भारत के राष्ट्रपति ने अनुसूचित जनजातियों की एक सूची जारी की, जिसे 1935 की पिछड़ी जनजातियों की सूची में संशोधन करके तैयार किया गया था। अनुसूचित जनजातियों की पहचान के लिए कोई समरूप कसौटी या मानदंड कभी स्थापित नहीं किए गए हैं। फलस्वरूप इस सूची में 1956 और 1976 में जो संशोधन हुए उनमें भी कुछ आदिवासी समूह छूट गए, हालांकि उनमें जनजातियों की मान्य विशेषताएं मौजूद थीं। असल में ढेबर आयोग (1961) ने जनजातियों के निर्धारण की समस्या की ओर ध्यान देने की जरूरत ही नहीं समझी। वैधानिक और शिक्षा दोनों स्तर पर यह स्थायी बना रह गया है।

बहरहाल, अधिकांश संकल्पनाएं अक्सर अस्पष्ट और परिवर्तनशील होती हैं, उनका साधनात्मक और क्रियात्मक महत्व होता है, इसलिए जनजाति की संकल्पना इससे अलग नहीं हो सकती। हमारे उद्देश्य के लिए एक कार्यशील परिभाषा पर्याप्त रहेगी। आदिवासी लोग आम तौर पर ऐतिहासिक रूप से विकसित समाज हैं। जैविक दृष्टि से वे स्वस्थायीकारी होते हैं और उनकी कुछ खास सामूहिक सांस्कृतिक विशेषताएं हैं। प्रबल वृहत्तर समाज और उसकी संस्थाओं के कई तरह से अधीन होने के कारण वे चिरकाल से अपनी अनूठी विशेषता और आंचलिक जीवनाधार संसाधनों के संरक्षण के लिए संघर्षशील रहे हैं।

23.2 जनजातियों की आबादी

वर्ष 1991 की जनगणना के अनुसार भारत में 6.80 करोड़ आदिवासी लोग रहते हैं जो कि देश की कुल जनसंख्या का 8 प्रतिशत है। यह संख्या विश्व के कई देशों की जनसंख्या से बड़ी है। वर्ष 1951 की जनगणना से पहले कुछ जनजातियों को पिछड़े वर्ग की श्रेणी में अस्थायी रूप से रखा गया था, इसलिए उसमें इनकी जनसंख्या 1.90 करोड़ आंकी गई थी, जो 212 जनजातीय समुदायों में बंटी थी। इनकी जनसंख्या 1971 और 1981 में बढ़कर क्रमश: 3.8 करोड़ और 5.2 करोड़ हो गई, जो कि कुल जनसंख्या का 7.0 और 7.8 प्रतिशत था। आज उनके 258 से लेकर 540 संप्रदाय है। यह संख्या इस पर निर्भर है कि इसके पर्यायों या उप जनजातियों को अलग से गिना गया है या नहीं। इसलिए इस संख्या को प्रामाणिक के बजाए सांकेतिक माना जाना चाहिए।

इसके अलावा जनजातियों की जनसंख्या में बड़ा अंतर देखने में आता है। जैसे, 1981 की जनगणना में *जावा* आदिवासियों की जनसंख्या सिर्फ 31 पाई गई, तो गोंड जनजाति की आबादी 7 लाख थी। इसी प्रकार अंडमानी, ओंगे, शोम्पेन, टोडा जैसे छोटी जनजातियों की आबादी एक हजार से भी कम है। लेकिन, भील, संथाल, ओरांव, मुंडा, मीणा, खोंड, साओरा इन सभी की अलग-अलग जनसंख्या 10 लाख से अधिक है।

23.2.1 आंचलिक घनत्व

इसी प्रकार उनके आंचलिक जनसंख्या घनत्व में भी भारी अंतर देखने को मिलता है। लगभग 55 प्रतिशत आदिवासी लोग मध्य भारत में, 28 प्रतिशत पश्चिमी भारत में, 12 प्रतिशत पूर्वोत्तर में और 4 प्रतिशत दक्षिण भारत में, तो शेष 1 प्रतिशत जनजातियां देश के अन्य भागों में रहती हैं। पर इस सिलसिले में हमें एक बड़ी रोचक बात नजर आती है। कुछ छोटे अपवादों को छोड़कर हमें महाराष्ट्र के ठाणे जिले से लेकर मणिपुर के

तेंगनाउपाल जिले तक जनजातीय वास-स्थान की एक संतत पट्टी दिखाई देती है। यहां हमें एक और बात नजर आती है। आदिवासी लोग अधिकतर प्रभावी भाषायी राज्यों के मिलन बिन्दुओं पर बसे मिलते हैं। 1960 के दशक में एक तिहाई आदिवासी लोग उन जिलों में रहते थे जिनमें वे कभी बहुसंख्यक थे। असल में 60 प्रतिशत उन जिलों में बसे थे जहां उनकी जनसंख्या कुल जनसंख्या का 30 प्रतिशत थी। आज भी इसमें कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ है।

23.2.2 वृद्धि दर

आदिवासियों की जनसंख्या सामान्य जनसंख्या से अधिक दर पर बढ़ रही है। 1981-1991 के दशक में सामान्य जनसंख्या की वृद्धि दर 2.1 प्रतिशत थी मगर आदिवासी जनसंख्या की वृद्धि दर 2.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी। मगर यह वृद्धि दर पूर्वोत्तर में काफी अधिक है, जहां यह 4.6 प्रतिशत प्रतिवर्ष है जबकि मध्य भारत में यह दर 2.5 प्रतिशत और दक्षिण भारत के आदिवासी अंचल में सिर्फ 1.5 प्रतिशत है। पर पूर्वोत्तर की जनसंख्या में इस वृद्धि दर में देश के बाहर से आई जनसंख्या को भी शामिल करना होगा। इसके अलावा मध्य और पश्चिमी भारत की जनजातीय पट्टी में खासकर नए या गैर-आदिवासी समुदायों को भी राजनीतिक दबाव के चलते अनुसूचित जनजातियों की सूची में शामिल किया गया है। इसलिए जनजातियों की जनसंख्या वृद्धि दर की बात करते समय हमें ऐसे कारकों को भी ध्यान में रखना होगा।

वर्ष 1991 की जनगणना के अनुसार आदिवासियों में स्त्री-पुंजाति अनुपात (972 महिला प्रति 1000 पुरुष) अधिक था। पर पिछले कई दशकों में यह अनुपात घटता रहा है। बल्कि कई बार यह सामान्य जनसंख्या से भी कम देखने में आया है। साक्षरता की जहां तक बात है, तो सिर्फ 23 प्रतिशत आदिवासी ही साक्षर हैं, जबकि सामान्य जनसंख्या में साक्षरता 43 प्रतिशत है। इसी प्रकार आदिवासी महिलाओं में सिर्फ 15 प्रतिशत महिलाएं ही साक्षर हैं, जबकि सामान्य जनसंख्या में महिला साक्षरता 32 प्रतिशत है। स्वतंत्रता के 50 वर्ष बाद शायद साक्षरता की अवधारणा और आदिवासियों की शिक्षा की रणनीति की समीक्षा की जरूरत है। इसी प्रकार आदिवासियों की सिर्फ 7 प्रतिशत जनसंख्या ही शहरों में रहती है, जबकि सामान्य जनसंख्या में 26 प्रतिशत शहरों में रहती है।

बहरहाल ये आंकड़े औसत जनजातीय परिवेश में विद्यमान भेदों को पूरी तरह से स्पष्ट नहीं करते। आदिवासियों में हमें सिर्फ उनकी जनसंख्या, जनसांख्यिक वृद्धि दर, आंचलिक घनत्व, स्त्री-पुंजाति अनुपात, साक्षरता, नगरीकरण इत्यादि में ही नहीं, बल्कि व्यवसाय, पारिस्थितिकी, भाषायी संबंध, नस्लीय रचना, नातेदारी प्रथा, आंदोलनों का इतिहास और अन्य कई परिवर्तियों में भी भारी विषमता दिखाई देती है।

23.3 आंतरिक सामाजिक भेद

ऐसे समाज की कल्पना कठिन है जो पूर्णत: समतावादी हो। दुनिया में चाहे कोई भी समाज हो वह हैसियत या प्रस्थिति संबंधी भेद धारण किए रहता है, जो आर्थिक, सामाजिक राजनीतिक और सांस्कारिक क्रिया-कलापों में अलग-अलग विशेषाधिकार लिए रहता है। भारत में अधिकांश बड़े आदिवासी समुदायों में अभिजात और योद्धा कुलीन वर्ग होता था। मुंडा शेदुकपेन, कोर्कू, भील, गोंड इत्यादि जनजातियों में जमींदार और कृषिदास/काश्तकार होते थे। छोटी जनजातियां अक्सर शक्तिशाली जनजातियों में दबंग वर्गों की सेवा-चाकरी करती थीं। इसलिए इसमें आश्चर्य नहीं कि हिन्दू राजाओं और मुगल शासकों ने भील, गोंड, कोली, मीणा इत्यादि आदिवासी समुदायों को मान्यता दी थी। गोंड़, चीरो, त्रिपुरी भूयन, कचारी, खासी, बिंझल, कोली और अन्य जनजातियों ने अपने-अपने आदिवासी समाज के गर्भ से स्वतंत्र राज्यों की स्थापना की थी। अंग्रेज शासकों ने भी जमींदारी और

मालगुजारी प्रथा का चलन आरंभ करके आदिवासी समाज के सामंती स्तर को शक्तिशाली बनाया। मगर उन्होंने अन्य लोगों की जमीन छीनी और किसानों को अपने प्लांटेशनों और खदानों में काम करने के लिए बाध्य किया। फलस्वरूप इस व्यवस्था के खिलाफ असंख्य विद्रोह हुए।

23.3.1 संरचनात्मक भेद

स्वतंत्रता के पश्चात अधिकांश आदिवासी समाजों में संरचनात्मक भेद निर्विवाद रूप से स्थापित हो चुका है। भूमि पर नियंत्रण, व्यावयायिक वितरण, आमदनी, श्रम के नियोजन, शिक्षा के प्रसार और नगरीकरण, बाहरी दुनिया से सम्पर्क की गहराई, उत्पादन के संसाधनों तक पहुंच, जीवन शैली, इत्यादि मामलों में विषमता देश की सभी जनजातियों में उल्लेखनीय ढंग से देखने में आती है।

देश की 80 प्रतिशत जनजातियों के लिए भूमि का सवाल बड़ा अहम है। कृषि पर आधारित अर्थ-व्यवस्था, जहां कि कृषि भूमि दुर्लभ है, उसमें भूमि का असमान वितरण निश्चय की कृषि संबंधों को प्रभावित करेगा। भूस्वामी जितना बड़ा होगा, जमीन को कमाने के लिए बाहर के श्रम को लगाने की जरूरत उसे उतनी ही अधिक होगी। इसके विपरीत काश्तकार जितना छोटा होगा, जीवित रहने के लिए अपना श्रम बेचने की प्रवृत्ति उसमें उतनी ही ज्यादा होगी। भूमिहीन के लिए अपना श्रम बेचने के अतिरिक्त कोई दूसरा चारा नहीं रहता। देश के सभी आदिवासी बहुल अंचलों में विद्यमान इस अर्थ-व्यवस्था में शोषण स्वाभाविक है। आइए अब हम भूमि के अहम सवाल को लेते हैं।

23.3.2 भूमि स्वामित्व

भूमि स्वामित्व संबंधी आंकड़ों को देखने पर हमें आदिवासियों में भारी भेद नजर आते हैं। उदाहरण के लिए एक अध्ययन में 43 प्रतिशत आदिवासियों के पास एक हेक्टेअर से भी कम जमीन पाई गई तो वहीं उनमें 9 प्रतिशत लोग चार हेक्टेअर से अधिक भूमि के स्वामी थे। इस प्रकार का अति विषम भूमि स्वामित्व उनमें विद्यमान सिर्फ आंतरिक आर्थिक भेदों को नहीं, बल्कि सामाजिक-राजनीतिक विभेदन को भी दर्शाता है। गुजरात, उड़ीसा, त्रिपुरा, पश्चिम बंगाल और अन्य राज्यों में इस सिलसिले में हुए अनेक आंचलिक अध्ययन इस बात की पुष्टि करते हैं। उदाहरण के लिए, 37 प्रतिशत आदिवासी परिवारों के पास इतनी जमीन नहीं है कि वे उससे अपना जीवन निर्वाह कर सकें। मगर वहीं 7 प्रतिशत आदिवासी परिवारों में प्रत्येक के पास लगभग 20 एकड़ जमीन है। जमीन अधिक होने का मतलब है कि उनके पास पशुधन अधिक, विक्रेय बेशी, दिहाड़ी पर मजदूर रखने की क्षमता, *उपभोक्ता वस्तुओं को खरीदने की क्षमता,* अच्छा घर होने के साथ-साथ शिक्षा और संस्थागत ऋण प्राप्त करने की क्षमता भी अधिक होगी। यह भूमि विषमता अपेक्षतया उन्नत आदिवासियों में अधिक है। छोटी जनजातियों में बड़ी जनजातियों की तुलना में कम भेद पाया जाता है।

देश की जनजातियों में विद्यमान आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक मामलों में गंभीर भेदों के बारे में बताने के बाद यह कहना जरूरी है कि सभी आदिवासी यही महसूस करते हैं कि उनसे जीवन के पारंपरिक संसाधन छीन लिए गए हैं, उनके इतिहास, संस्कृति और संस्थागत संरचनाओं को आघात पहुंचाया जा रहा है। निर्णय के क्षेत्र में भी वे अपने आप को उपेक्षित महसूस करते हैं। इसीलिए आदिवासी अब शोषित और उपेक्षित वर्ग की एक संगठित सामाजिक श्रेणी के रूप में उभर रहे हैं।

23.4 आदिवासियों के सामाजिक आंदोलन

अठारहवीं सदी से पहले आदिवासी लोग अपनी केन्द्रीकृत सत्ता और हिन्दू व मुस्लिम शासकों के प्रति उदासीन से थे। इसका एकमात्र अपवाद मराठा शासन के तहत आने वाले कुछ

खास अंचल और जनजातियां थी। असल में आदिवासी शासक उतना ही उगाही करते थे, जितना कि उनकी शासन व्यवस्था को बनाए रखने के लिए जरूरी था। एक तरह से उनकी सत्ता की वैधता विकेन्द्रित थी।

औपनिवेशिक शासन काल में ही वे सभी एक केन्द्रीकृत दमनकारी राज्य के शिंकजे में आए। इसके फलस्वरूप अभी तक बिखरे और असंगठित रहे आदिवासियों और उनके धड़ों ने एकताबद्ध होकर स्थानीय स्तर पर विद्रोह किए। उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान संथाल, ओरांव, कोल, कोया, भील, साओरा जैसी संख्या की दृष्टि से शक्तिशाली आदिवासी समुदायों ने उपनिवेशवाद और सांमतवाद को अपने स्थानीय प्रसंग में जिस रूप में देखा और जाना उसके खिलाफ उन्होंने लड़ाई लड़ी। कुछेक सुधारवादी मसीहाई या अनुकरणात्मक आंदोलनों को छोड़कर उनके अधिकांश विद्रोह और आंदोलन भूमि हस्तांतरण, वन आरक्षण, जबरिया और करारबद्ध मजदूरी, दमनात्मक कर, संस्कृति और धर्म की क्षति और पारंपरिक सत्ता की बदलाई के खिलाफ हुए। मगर इन आंदोलनों में औपनिवेशिक शासन विरोधी परिप्रेक्ष्य अच्छी तरह से नहीं उभर पाया क्योंकि अंग्रेजों के हित स्थानीय और आंचलिक सत्ताओं के माध्यम से साधे जा रहे थे। आंतर-जनजातीय अंतर्विरोधों पर गैर-जनजातीय आक्रमण हावी हो गए, तो जातीय बंधनों और समान विरासत के चलते उनके अपने समुदायों के शोषक हमलों से बच गए। बीसवीं सदी के आरंभ में राष्ट्रीय आंदोलन ने जब जोर पकड़ा, तभी जाकर औपनिवेशिक-विरोधी नजरिया कांधा, कोया, ओरांव, मुंडा, साओरा, वर्ली, गोंड और अन्य आदिवासी आंदोलनों को मिला।

भारत के आदिवासी भील/ईंधन चुनती हुई महिलाएँ

साभार: किरणमई बुशी

23.4.1 स्वतंत्रता के पश्चात आदिवासी आंदोलन

मगर स्वतंत्रता के पश्चात आदिवासियों के आंदोलनों में विविधता आ गई। अपनी तमाम विषमांगता के बावजूद आदिवासियों ने अपने सामूहिक कष्टों, वंचनाओं अवमानना और अकांक्षाओं को दबे-कुचले गैर-जनजातीय लोगों से जोड़कर एक सामूहिक मंच बनाया। इस प्रकार अंचलेतर निष्ठा और चेतना का सूत्रपात हुआ। पर इसके बावजूद अभी तक जितने भी आदिवासी आंदोलन भारत में हुए हैं वे स्वाभाविक रूप से जातीयता या राष्ट्रीयता के प्रश्न से जुड़े रहे हैं। इसलिए आश्चर्य नहीं कि मौजूदा समय में द्विजों की संस्कृति की दिशा में सांस्कृतिक-सामाजिक गतिशीलता के लिए जो जनजातीय आंदोलन चल रहे हैं, उनका कोई महत्व नहीं रह जाता। बल्कि रुझान उसकी विपरीत दिशा में अधिक मुखर होते जा रहे हैं।

बहरहाल आदिवासियों के अभी तक जो भी संगठित आंदोलन हुए, वे ज्यादातर ऐसे समुदायों ने किए हैं, जिनकी जनसंख्या अपेक्षतया अधिक और जिनमें राष्ट्रीय जनतांत्रिक प्रक्रिया और आंतरिक सामाजिक-आर्थिक विभेदन को लेकर जागरुकता रही है। अनुभव यही कहता है कि जो आदिवासी समाज अधिक विभेदित हैं, वही पराधीनता का कड़ा विरोध करते हैं, जिसमें समाज का अभिजात वर्ग उनके आंदोलन में लामबंदी का केन्द्रबिन्दु बनता है। उनके संघर्ष या आंदोलन वृहत्तर आदिवासी समाज की सामाजिक आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का सार है।

23.4.2 आदिवासी संघर्ष के मूल कारण

जनजातीय आंदोलनों के मूल में तीन अंतरसंबद्ध कारण हैं: आत्मबोध, विचारधारा और पूंजीवादी विकास मॉडल। इसलिए ये आंदोलन संसाधनों पर सामूहिक हक-हकूकों, सांस्कृतिक भाषायी क्षेत्रों में आंतरिक स्व-निर्णय का अधिकार और धारणीय विकास की एक कारगर रणनीति के लिए हुए हैं। मगर दुर्भाग्यवश पूर्वोत्तर में राजनैतिक स्वायत्तता के लिए हो रहे जनजातियों के सशस्त्र राष्ट्रवादी आंदोलनों और मध्य भारत के आदिवासी अंचलों में चल रहे आमूल परिवर्तनवादी किसान आंदोलनों को कानून और व्यवस्था की समस्या समझ कर उनका सैनिक समाधान ढूंढा जाता है। राजनैतिक स्वायत्तता और संविधान की छठी अनुसूची में जनजातीय अंचलों को शामिल किए जाने की मांग पूरी तरह से न्यायोचित और संवैधानिक हैं, जिनका समाधान लोकतांत्रिक तरीके से किया जाना चाहिए।

बोध प्रश्न 1

1) अनुसूचित जनजाति की कार्यशील परिभाषा पांच पंक्तियों में दीजिए।

....

....

....

....

....

2) भारत में जनजातीय सामाजिक आंदोलनों पर पांच पंक्तियों में एक नोट लिखिए।

....

....

....

....

....

23.5 संवैधानिक प्रावधान

भारतीय संविधान में आदिवासियों के कल्याण और अनुसूचित क्षेत्रों का विकास सुनिश्चित करने के लिए 20 अनुच्छेद और दो विशेष अनुसूचियां दी गई हैं। यह पूरे विश्व में सबसे अनूठी बात है। समानता के मौलिक अधिकार संबंधी अनुच्छेदों (14,15,16,17) के अलावा, शोषण के खिलाफ अधिकार (23,24), जनजातियों के विशेष अधिकार (15,16,19) के साथ-साथ राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांत में अनेक अनुच्छेद (38, 39, 41, 43, 46, 47, 48) अनुसूचित जनजातियों से जुड़े हैं। ये बात अलग है कि नीति निर्देशक सिद्धांत में किए गए प्रावधानों को कानूनन लागू नहीं किया जा सकता। इसके लिए राज्य ही पहल कर

सकता है। इनमें सबसे महत्वपूर्ण अनुच्छेद 46 माना जाता है, जो कहता है कि राज्य "कमजोर तबकों और खासकर अनुसूचित जातियों और जनजातियों के शैक्षिक और आर्थिक हितों पर विशेष ध्यान देगा और सामाजिक अन्याय तथा सभी प्रकार के शोषण से उनकी रक्षा करेगा।" यह आदर्श निश्चय ही वांछनीय है, पर यह ऐसी कोई युक्ति या मार्ग नहीं देता कि समाज के कमजोर तबके शोषण भरे माहौल में अपने जीवन को शोषण से मुक्त बना पाएं।

23.5.1 जनजातीय कल्याण के उपाय

भारत के कुछ राज्यों में आदिवासियों के कल्याण के लिए एक मंत्री (164), भूमि हस्तांतरण और महाजनी के संदर्भ में अनुसूचित और जनजातीय अंचलों के प्रशासन (244), राज्यों के विकास के लिए अनुदान (275), अनुसूचित जनजातियों की पहचान (366) और विधायिका (विधानसभा, संसद), शिक्षा और रोजगार में जनजातियों के लिए आरक्षण (330, 332, 334, 335, 338, 339) के प्रावधान संविधान में किए गए हैं। आरक्षण को हालांकि सबसे सार्थक उपाय माना जाता है, मगर इसका जनजातीय समुदायों को प्रत्यक्ष लाभ न मिलकर उनके सदस्यों को व्यक्तिगत तौर पर लाभ मिल रहा है।

संविधान का अनुच्छेद 371 कुछ राज्यों में आदिवासियों में प्रचलित पारंपरिक कानूनों, न्याय प्रणाली और सामाजिक-धार्मिक प्रथाओं को वैध ठहराता है। पांचवीं अनुसूची (244) में हमें जनजातियों की ओर संरक्षक ओर पितृवत भाव नजर आता है। वैसे यह भूमि और उस पर आधारित संसाधनों पर सामूहिक अधिकार को नहीं मानता, न ही यह उनकी पारंपरिक राजनैतिक संस्थाओं को मान्यता देता है। बहरहाल इस तरह के संरक्षणात्मक प्रावधान व्यवहार में प्रायः या तो प्रभावहीन रहे हैं या फिर वे लागू ही नहीं किए गए हैं। पांचवीं अनुसूची स्वायत्त जिला/क्षेत्रीय परिषदों के जरिए स्व-प्रबंध, जातीय विकास और आंतरिक-आत्म-निर्णय की बात करती है। इन परिषदों को कार्यपालिका, विधायिका और न्यायिक अधिकार दिए गए हैं। मगर इसके दायरे को तरह-तरह के संशोधनों के द्वारा काफी कम कर दिया गया है। बहरहाल पांचवी अनूसूची कुछ खास अंचलों में संसाधनों पर जनजातियों के पारंपरिक सामूहिक अधिकारों, उनकी सांस्कृतिक विविधता, धारणीय स्व-विकास, स्वप्रबंध और आत्म-निर्भरता को स्वीकार करता है।

23.5.2 जनजातियों के लिए नीति

आदिवासियों के लिए अपनायी गई नीति जटिल है। एक ओर इसका ध्येय उनकी दशा में संतुलित सुधार लाना है, तो दूसरी ओर यह उनकी विशिष्टता और स्वायत्तता के संरक्षण के साथ-साथ मुख्य धारा में उनके स्वीकरण का ध्येय लेकर चलती है। प्रयुक्त नीति का व्यापक ढांचा स्पष्ट तरीके से जवाहरलाल नेहरू ने 1958 में रखा था। इसमें अन्य बातों के अलावा यह कहा गया था कि उन्हें अपनी मेधा के अनुसार विकास करना होगा। जमीन और जंगल पर उनके अधिकार का आदर किया जाना चाहिए। पर व्यवहार में इसके विपरीत हुआ और राज्य ही असल में संसाधनों के हस्तांतरण का मुख्य स्रोत बन गया है और आदिवासियों के संज्ञानात्मक सिद्धांतों तथा प्रचलनों को अमान्य भी उसी ने बनाया है।

कुछ ही समय पहले एक रोचक परिवर्तन हुआ है। पंचायती राज (अनुसूचित क्षेत्र विस्तार) अधिनियम, 1996 जो कि अब भी पूर्वोत्तर के आदिवासी क्षेत्रों और गैर-अनुसूचित क्षेत्रों और नगरीय क्षेत्रों में रहने वाले आदिवासियों को शामिल नहीं करता, उसमें विकास परियोजनाओं के लिए भूमि अधिग्रहण से पहले ग्राम सभा से परामर्श करने का प्रावधान किया गया है। यह अधिनियम जनजातीय समुदाय को विकास की बुनियाद मानता है, जिसकी अपनी ठोस परंपराएं और रीति-रिवाज हैं जो उसके स्व-शासन प्रणाली की धुरी हैं।

ग्राम सभा को सामुदायिक संसाधनों का प्रबंध, स्थानीय झगड़ों, विवादों को सुलझाने, विकास योजनाओं और कार्यक्रमों का अनुमोदन करने, लघु वन उत्पादों और खनिजों के स्वामित्व,

गैरकानूनी ढंग से हस्तांरित जमीन को बहाल करने, साहूकारी और विपणन पर नियंत्रण रखने और अपने रीति-रिवाजों के अनुसार स्व-प्रबंध जैसे कई अधिकार दिए गए हैं। हालांकि यह कानून पांचवी अनुसूची में स्थापित मानकों की कसौटी पर पूरी तरह से खरा नहीं उतरता, मगर उस दिशा में एक सार्थक पहल अवश्य है। इसलिए पांचवी अनुसूची क्षेत्र के आदिवासी भी इसे अपने यहां लागू कराने की मांग कर रहे हैं।

23.6 सामाजिक-आर्थिक सुधार

आदिवासियों के कल्याण के लिए तमाम संवैधानिक प्रतिबद्धताओं और नियोजन के पांच दशकों के बाद भी, उनका जीवनस्तर राष्ट्रीय औसत के काफी कम है। गरीबी, कुपोषण, मृत्युदर और रुग्णता उनमें सबसे ज्यादा है। लगभग 85 प्रतिशत जनजातीय परिवार गरीबी की रेखा के नीचे हैं, जबकि राष्ट्रीय औसत 38 प्रतिशत है। उनमें से 60 प्रतिशत लोग कुपोषण के शिकार हैं। वनों को आरक्षित किए जाने, सैन्य और राष्ट्रीय सुरक्षा के कारणों से कई क्षेत्रों को निषिद्ध बनाने, आदिवासी लोगों का बड़े पैमाने पर पलायन वन-खन-जल, और पर्यावरण संपदा के दोहन के फलस्वरूप वे अपनी भूमि और भूमि आधारित अधिकारों से वंचित हो रहे हैं। उनके सामने विसंस्कृतीकरण का खतरा मंडरा रहा है। इसी तरह उत्तर-औपनिवेशिक काल में शक्ति असंतुलन और भी गहरा गया है।

आदिवासियों के कल्याण पर किए जाने वाला खर्च भी खूब चर्चा का विषय रहा है। मगर चौथी पंच वर्षीय योजना के अंत तक इस मद में कुल योजना परिव्यय का मात्र एक प्रतिशत खर्च किया जाता था। इसके पश्चात इसमें कुछ वृद्धि हुई। मगर यह वृद्धि मूलत: इस व्यय में ढांचागत और प्रशासनिक खर्च जोड़ देने से हुई। पहले आदिवासी कल्याण मंत्रालय और विभागों के खर्च को ही इस मद में शामिल किया जाता था मगर अब औद्योगिक और जलविद्युत परियोजनाओं समेत कोई भी खर्च इस मद में जोड़ दिया जाता है। इसलिए प्रतिशत में दिखाई देने वाला फर्क भ्रामक है। बहरहाल यहां इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जनजातियों के विकास या कल्याण के लिए भारत सरकार जो खर्च कर रही है वह उनकी जनसंख्या के अनुपात में कतई नहीं है। अगर मुद्रा-स्फीति को ध्यान में रखें तो आदिवासी लोगों पर 1951 के मूल्य स्तर के हिसाब से 1970 दशक के मध्य तक प्रतिव्यक्ति मात्र 50 पैसे खर्च किए जाते थे। इसके पश्चात यह बढ़कर लगभग पांच रुपया हो गया, मगर इसमें तरह-तरह के व्ययों के अलावा इन योजनाओं की प्रशासनिक लागत भी शामिल कर ली गई। जैसे 194 समेकित जनजातीय विकास परियोजना, मॉडिफाइड एरिया डेवलपमेंट एप्रोचेज के अंतर्गत खंड स्तर के नीचे के 268 आदिवासी इलाकों और आदिम समूहों के 90 छिटपुट क्षेत्रों में चलाई गई योजना, जिसमें लगभग 69 प्रतिशत जनसंख्या शामिल की गई थी। आदिवासी कल्याण पर होने वाला खर्च नगण्य ही नहीं है बल्कि जो कुछ भी इस पर खर्च किया जा रहा है, वह आर्थिक विकास के बजाए उनकी शिक्षा पर अधिक हो रहा है।

23.6.1 व्यष्टि-स्तरीय सर्वेक्षण

अनेक व्यष्टि-स्तरीय सर्वेक्षणों में पाया गया है कि सर्वेक्षण में शामिल किए गए 50-60 प्रतिशत परिवारों को किसी भी कल्याण या विकास कार्यक्रम की कोई जानकारी नहीं रहती। ऐसे में किसी योजना या परियोजना से उनके लाभान्वित का प्रश्न ही कहां उठता है। बल्कि ईन परिवारों के अनुसार विकास की प्रचलित अवधारणा और उनके बीच में असमान बाजार-शक्तियों के आगमन के चलते कुछेक दशकों से उनकी दुर्दशा हो गई है। निस्संदेह 10 प्रतिशत आदिवासियों को कल्याणकारी कार्यक्रमों और विकास योजनाओं का लाभ मिला है। मगर इनमें ज्यादातर दबंग समुदायों और विकसित अंचलों के बड़े जोतदार, पारंपरिक सरदार और शिक्षित अभिजात वर्ग के लोग शामिल हैं। इसका अपवाद 74

'आदिम' समूह हैं जिन्हें इन योजनाओं और कार्यक्रमों का कुछ लाभ जरूर मिला है। इसका कारण यह है इस प्रक्रिया में आम आदिवासी लोगों को भी अनजाने कुछ आकस्मिक लाभ मिल जाते हैं।

आदिवासी कल्याण की व्यवस्था मूलतः आदिवासियों के संघर्षों की उपज है। दरअसल यह उनमें राजनैतिक शांति बनाए रखने के लिए की गई है। पर यह मध्यस्थता के ढांचे को मजबूत बनाने का काम कर रही है, जिसका दायरा कुछ नेताओं से लेकर आम आदिवासियों तक जाता है। यह उनके आंतरिक अंतर्विरोधों, आंदोलन या विद्रोह की आसन्न संभावना, श्रम और वस्तु बाजार में योगदान, चुनावी समीकरणों और राज्य की सापेक्ष स्वायत्तता पर निर्भर करता है। इसलिए जाहिर है कि कल्याणकारी उपायों का उद्देश्य सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सत्ताधिकार का पुनर्वितरण करना नहीं है। सो एक स्तरित समाज में लाभों के इस तरह के अव्यवस्थित वितरण का तार्किक अर्थ निकलता है कि व्यक्ति का वर्ग और उसकी हैसियत जितनी ऊंची होगी इन लाभों में उसे उतना ही बड़ा हिस्सा मिल पाएगा। ऐसी स्थिति में मुख्य प्रयास यही रहता है कि कुछ व्यक्तियों को चुन लिया जाए ताकि वे टकराव को रोकने वाले रोधक का काम कर सके, जिससे मौजूदा असम व्यवस्था की अभिव्यक्ति सहज और रख-रखाव सुनिश्चित हो जाए। पर आदिवासियों में इस तरह के विशेषाधिकार प्राप्त तबकों और भारतीय शासक वर्ग के बीच गठजोड़ अभी कमजोर है। बहरहाल देश के नागरिकों के रूप में जनजातीय लोगों को बहुत कम हासिल हुआ है जो उनकी आशाओं, अपेक्षाओं के अनुरूप कतई नहीं हैं।

23.7 आदिवासियों में अभिजात वर्ग की भूमिका

औपनिवेशिक काल में न्याय के लिए जितने भी संघर्ष आदिवासियों नें किए उनका नेतृत्व उनके अपदस्थ अभिजात वर्ग ने किया। स्वतंत्रता के बाद भारत ने इस बात को गंभीरता से लिया और उनकी जीवन स्थिति को बेहतर बनाने के लिए कई उपाय किए। मगर संसाधनों के सीमित होने या उनका वितरण असमान ढंग से होने के कारण इनका लाभ व्यापक स्तर पर नहीं पहुंचा। सो विशेष सुविधा देने की जो व्यवस्था भारत ने खड़ी की है उसने आदिवासियों के बीच एक आधुनिक अभिजात वर्ग को जन्म दिया है जो शिक्षा, राजनीति और आर्थिक दृष्टि से उन्नत है। इसके विपरीत साधारण आदिवासी लोगों की दशा स्वतंत्रता से पहले की दशा से अच्छी भी नहीं कही जा सकती।

कुछ विद्वान तर्क देते हैं कि आदिवासी संभ्रांत वर्ग सिर्फ अपने हितों की ही अभिव्यक्ति करता है, आम आदिवासी के हित की नहीं। इसलिए विकास योजना का लक्ष्य कमजोर आदिवासी तबके होने चाहिए। मगर उनका यह तर्क इस बात को नजरअंदाज कर देता है कि जब समूचा भारतीय समाज वर्गों में (और जाति और धर्म के आधार पर भी) बंटा हो और जब जीवन के हर क्षेत्र में सामाजिक संबंध का स्वरूप शोषण से चिन्हित होता हो, तो उस समाज में आदिवासी अभिजात वर्ग भला किस तरह से भिन्न हो सकता है? फिर अपने मूल समुदाय के साथ-साथ राष्ट्रीय समाज का सदस्य होने के कारण आदिवासी अभिजात वर्ग अपने समाज को वृहत्तर व्यवस्था से जोड़ने के लिए एक संपर्क व्यवस्था का सृजन भी करता है। अभिजात वर्ग के निर्माण की यह प्रक्रिया अगर गति पकड़े, तो इससे एक राष्ट्रीय अभिजात वर्ग के निर्माण की संभावना हो सकती है। इससे अंतरजातीय दूरी मिटेगी। इसके अलावा यह आदिवासी समाज में हो रहे सामाजिक परिवर्तन का केन्द्र भी है। हो सकता है कि कभी-कभी वह इस दायित्व को नहीं निभाए, लेकिन शेष राष्ट्र का अभिजात वर्ग भी ऐसा ही करता है।

आदिवासी अभिजात वर्ग का प्रवेश देरी से होने के कारण वह गैर-आदिवासी अभिजात वर्ग के साथ स्पर्धा नहीं कर पाता। यह कमजोरी *उसकी सामुदायिक व्यवस्था का अभिन्न अंग* है। इसलिए आदिवासी अभिजात वर्ग अपने लोगों से पूरी तरह से अलग नहीं हो सकता। यूं

तो साधारण आदिवासी लोग अपने पारंपरिक राजनैतिक अभिजात वर्ग, साहूकार, धनी किसानों, आधुनिक राजनेताओं और सरकारी नौकरों, मजदूरों के ठेकेदारों के एजेंट इत्यादि को शंका की दृष्टि से देखते हैं और उन्हें भीतरी भीकू भी कहते हैं, पर इसे हमें इस रोशनी में देखना होगा कि बाजार शक्तियों और उनके एजेंटों के साथ उनके अंतर्विरोध इतने गहरे होते हैं कि वे अपना संघर्ष अक्सर जातीयता के आधार पर चलाते हैं, जिसमें उन्हें अपने भीतरी अभिजात वर्ग से ही प्रत्यक्ष या परोक्ष समर्थन मिलता है।

23.8 आदिवासी और उभरता सामाजिक स्तरीकरण

अट्ठारहवीं सदी में भारत पर जो भी लेखन हुआ उसमें जाति शब्द को अक्सर जनजाति के लिए प्रयोग किया गया। कालांतर में उसे जातियों और जनजातियों के लिए समस्रोत के रूप में प्रयोग किया गया। भारतीय संविधान (अनुच्छेद 341(1)) ने भी कहा है कि जनजाति या कबीले को अनुसूचित जनजाति की श्रेणी में रखा जा सकता है। फिर 1951 की जनगणना ने भी लगभग 10 लाख आदिवासियों को अस्थायी रूप से अन्य पिछड़े वर्गों की श्रेणी में रखा था।

बहरहाल समाजशास्त्रीय अनुसंधान में जो थोड़ा बहुत ध्यान जनजातियों के संक्रमण पर दिया गया है उसे अमूमन जनजाति से जाति में परिवर्तन के रूप में देखा जाता है। निश्चय ही कुछ समाज-शास्त्रियों ने आदिवासियों को पिछड़ा हिन्दू बताया है, असल में प्रमुख आदिवासी समुदाय हिन्दू-मुस्लिम और अन्य मतावलंबियों के संपर्क में रहे हैं। इस प्रक्रिया में आदिवासियों में ही नहीं, बल्कि जातियों और अन्य समूहों में सांस्कृतिक और ढांचागत परिवर्तन हुए हैं। मगर ऐतिहासिक और संदर्भात्मक प्रमाण जनजातियों के जातियों में कायांतरण की प्रवृत्ति के इस सिद्धांत की पुष्टि नहीं करते। कुछ दशकों तक आदिवासियों पर प्रभावी संस्कृति के अनुकरण का भूत सवार रहा, जिसे हम संस्कृतीकरण कहते हैं। लेकिन इस तरह के प्रयत्नों से उनकी भौतिक स्थिति या हैसियत में कोई सुधार नहीं हुआ, इसलिए अधिकांश लोगों ने अपनी अनूठी जातीय पहचान को फिर से पा लिया है। ऐतिहासिक दृष्टि से वे कई हो सकती हैं, लेकिन समकालीन दौर में वे सभी अपने को एक मान रही हैं।

23.8.1 हालिया अध्ययन

हालिया अध्ययनों में संख्या में बड़ी कुछ जनजातियों में कृषक समुदाय के लक्षण पाए गए हैं। मगर जनजातीय कृषक समाज का चरित्र चित्रण अलग-अलग तरह से किया गया है। वे कहीं कृषकों के कमोबेश अविभेदित समुदाय के रूप में दिखाई देते हैं तो कहीं स्तरित समूह और कहीं वर्गीय समाज के रूप में। परिवर्तन की बाहरी और आंतरिक प्रेरक शक्तियों पर जनजातीय अनुसंधान में अभी तक कोई गौर नहीं किया गया है। जिन विद्वानों ने आदिवासी कृषक समाज को एकल हित समूह के रूप में स्वीकार नहीं किया है, उनमें से अधिकांश ने उनमें विद्यमान विभेदन का विश्लेषण स्तरीकरण के रूप में किया है। यानी उन्होंने उसे धन, आमदनी और प्रस्थिति की श्रेणियों में बांटा है जिसके जरिए परिवार ऊपर उठते हैं या नीचे गिरते हैं। पर आय वितरण, परिसंपत्तियों पर स्वामित्व, व्यावसायिक ढांचा, इत्यादि सामाजिक स्तर का वर्णन तो प्रदान करते हैं मगर वे सामाजिक संबंधों और व्यवस्था किस तरह से काम करती है, यह नहीं बताते। इसके अलावा वे परिवर्तन की प्रेरक शक्तियों की पहचान नहीं कर पाते हैं। एक बात और है कि दो शोधकर्ता अगर एक ही सिद्धांत को लेकर चल रहे हैं, तो भी एक ही आबादी का वर्गीकरण भिन्न तरीके से करते हैं। इन स्तरों को अक्सर वर्ग कहा जाता है–उच्च, मध्यम और निम्न, धनी और निर्धन इत्यादि। पर ये वर्णनात्मक विभाजन ज्यादा से ज्यादा नजदीकी अनुमान दे सकते हैं जिनमें हमे सामाजिक वर्ग के पहलू आंशिक रूप से ही दिख पाते हैं।

23.8.2 मार्क्सवादी अवधारणा

मार्क्सवादी अवधारणा विश्लेषाणात्मक है जो सामाजिक स्तरीकरण पर रचे गए साहित्य में प्रचलित कृत्रिम श्रेणीकरण के एकदम उलट है। इसका सीधा सा मतलब यह है कि भौतिकतावादी नजरिए से कृषक समाज उन स्थितियों में बंधा रहता है, जिसके तहत बेशी उत्पादन को हस्तगत और उपभोग किया जाता है, या उसे पुनर्निवेश कर दिया जाता है। मगर पिछड़े आर्थिक ढांचे में इस तरह की सीमा अस्पष्ट सी होती हैं, इसलिए उनमें वर्ग की अवधारणा को लेकर चलना कई समस्याएं खड़ी करता है। उत्पादन के साधनों का स्वामितव और श्रम की प्रक्रिया में भागीदारी करना वर्ग पहचान और ढांचे को पूरी तरह से नहीं दर्शाता क्योंकि अधिकांश आदिवासी दुनिया का अनुभव मूलत: अपनी भाषा-बोली में करते हैं।

यहां यह दोहराने की जरूरत नहीं है कि आदिवासियों में भूमि स्वामित्व, जैसा कि हमने पीछे बताया है, बड़ा ही असमान है। मगर वर्तमान में 55 प्रतिशत लोगों के पास पांच-पांच एकड़ और 11 प्रतिशत लोगों में प्रत्येक के पास 15 एकड़ जमीन है। गुजरात में हुए एक अध्ययन के अनुसार 25 प्रतिशत आदिवासी परिवारों के पास कुल 3.6 प्रतिशत जमीन है, लेकिन एक-दशक परिवारों के पास एक-तिहाई जमीन है। भूमि स्वामित्व की यह असमानता हमें अलग-अलग गांव और हर जनजाति में प्रमुखता से नजर आती है। संक्षेप में आदिवासी समाज वृहत्तर पूंजीवादी क्षेत्र से जुड़ा हुआ है। दोनों के शासक वर्गों के अंतर्विरोध हैं तो गठजोड़ भी हैं और दोनों आर्थिक उन्नति या ठहराव के लिए जिम्मेदार हैं।

23.8.3 कृषक समाज के रूप में जनजातियां

पीछे हमने जनजाति और कृषकों के बीच अंतर बताया है। लेकिन अस्तित्व के स्तर पर सभी जनजातियां असल में कृषक समाज हैं जो राज्य की वृहत्तर राजनैतिक अर्थ-व्यवस्था के अंदर ही विद्यमान रहते हैं। उनकी उपस्थिति और गतिशीलता को हम इन समाजों के वर्गीय विश्लेषण और उनके ढांचे के भीतर विभिन्न उत्पादन विधियों की अभिव्यक्ति के स्तर पर अच्छी तरह से समझ सकते हैं। जातीय चेतना और प्रथाएं तो संतत चलती हैं, मगर वर्गीय प्रथाएं राजनैतिक स्तर पर मुखर नहीं हो पाई हैं।

बोध प्रश्न 2

1) पांच पंक्तियों में जनजातियों के कल्याण के लिए किए गए कुछ महत्वपूर्ण प्रावधानों और उपायों के बारे में बताइए।

....

....

....

....

....

2) सामाजिक ढांचे में आदिवासियों की मौजूदा स्थिति पर पांच पंक्तियों में प्रकाश डालिए।

....

....

....

....

....

आर्थिक उदारीकरण और भूमंडलीयकरण की प्रक्रिया ने वर्गीय और आंचलिक विभाजनों को और गहरा कर दिया है। आदिवासी हालांकि ऐसे अंचलों में रहते हैं, जो प्राकृतिक संसाधनों से भरपूर हैं। मगर वे ही सबसे अधिक उपेक्षित हैं और उनका जीवन-स्तर निरंतर गिरता जा रहा है। आज भी उन्हें अपनी संपदा से वंचित किया जा रहा है, वे सस्ता श्रम प्रदान करते हैं, उन्हें उनकी इच्छा के विरुद्ध विस्थापित किया जा रहा है और उन्हें भुखमरी जैसे अनेक दुर्गम कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। यह आदिवासियों के सीमांतीकरण या उन्हें हाशिए में धकेलने की प्रक्रिया है। पर बाहरी लोगों के हित तो स्थानीय बिचौलियों के माध्यम से ही साधे जा सकते हैं। इसीलिए आदिवासी लोगों का जो छोटा सा तबका संपन्न, शिक्षित और शक्ति संपन्न है, बहुराष्ट्रीय कंपनियां और अंतरराष्ट्रीय संस्थान उसी का इस्तेमाल अपने लाभ संचयन के लिए करते हैं। इस प्रक्रिया में यह तबका भी समृद्धि हासिल कर तो लेता है, मगर मुट्ठीभर लोगों की यह समृद्धि स्थायी नहीं होती।

20.5 सारांश

विसंस्कृतीकरण, संस्कृति-संक्रमण, सहयोजन, नकारात्मक पहचान इत्यादि कठिनाइयों से जूझने के बावजूद आदिवासियों ने अपनी निज-पहचान, नातेदारी के मूल्यों, संस्थागत पारस्परिकता, साझे इतिहास और क्षेत्रीय *भोगाधिकार* के बोध को जीवित रखा है। वे अब अपने दार्शनिक और सांस्कृतिक अनूठेपन और क्षमताओं को जानने लगे हैं। उनमें अंतर-जनजातीय एकता और चेतना भी बढ़ रही है, जिससे आंतरिक और जातीय सहयोजन की प्रक्रिया कमजोर होने लगी है। अपने परंपरागत संसाधनों पर नियंत्रण, पारंपरिक संस्थाओं और समतावादी मूल्यों का पुनरुत्थान, ये सभी बाहरी बुराइयों के प्रति उनके लिए सुरक्षा कवच का काम कर सकते हैं।

20.6 शब्दावली

कृषक समाज : अपने पारिवारिक श्रम और अपरिष्कृत प्रौद्योगिकी के साथ खेती-बाड़ी करने वाले समाज, जिनमें आंतरिक भेद नगण्य होता है।

नीति : प्रस्तावों और धनराशि की सहायता से ऐसे उपाय जिनका लक्ष्य एक जनसमूह जैसे आदिवासी या स्थिति को बनाया जाता है।

सामाजिक भेद : यह सामाजिक समूह में पृथक पहचान का स्पष्ट पहलू है, जिसमें समांगता या एकरूपता नहीं होती।

सामाजिक आंदोलन : जन साधारण के आर्थिक और सामाजिक समर्थन से एक सामूहिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला आंदोलन।

आदिवासी : ऐतिहासिक दृष्टि से विकसित लोग, जिनकी विशिष्ट जैविक और सांस्कृतिक विशेषताएं होती हैं, जो प्रायः वृहत्तर प्रबल समाज के अधीन होते हैं।

20.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

एन.सी. बसु, 1987, *फॉरेस्ट्स एंड ट्राइबल्स,* कलकत्ता, मनीषा ग्रंथालय

एन.के. बोस, 1980, *ट्राइबल लाइफ इन इंडिया,* नई दिल्ली, नेशनल बुक ट्रस्ट

जी.एस. घुरये 1963, *द शेड्यूल्ड ट्राइब्ज,* बंबई पॉपुलर प्रकाशन

बी.डी. शर्मा, 1984, *प्लानिंग फॉर ट्राइबल डेवलपमेंट,* नई दिल्ली, प्राची प्रकाशन

20.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) सभी व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए अनुसूचित जनजाति के रूप में जो भी जनजाति सूचीबद्ध है, वही अनुसूचित जनजाति कहलाती है। आदिवासी ऐतिहासिक रूप से विकसित समाज हैं जो जैविक रूप से स्व-स्थायीकारी हैं और जिनकी कुछ सांस्कृतिक विशेषताएं होती है। प्रबल समाज के प्रभाव में आने के कारण उन्हें अपनी पहचान को बनाए रखने के लिए संघर्ष करना पड़ता है।

2) अठ्ठारहवीं शताब्दी से पहले आदिवासी लोग उदासीन और निष्क्रिय थे और उनकी शासन प्रणाली विकेन्द्रित थी। औपनिवेशक शासन ने कुछ आदिवासियों को संगठित होकर दमन और उत्पीड़न के खिलाफ लड़ने के लिए बाध्य कर दिया। उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान बड़े विशाल भू-भागों में रहने वाली कई जनजातियों ने औपनिवेशिक शासन और सामंतवाद के खिलाफ लड़ाई लड़ी, जैसे संथाल, ओरांव, कोल, कोया, इत्यादि। स्वतंत्रता के पश्चात आदिवासी आंदोलन तो कम हुए हैं लेकिन उनका सरोकार मुख्यत: वंचना और अपमान रहे हैं।

बोध प्रश्न 2

1) भारतीय संविधान में आदिवासियों के कल्याण और अनुसूचित क्षेत्रों के विकास के लिए लगभग 20 अनुच्छेद और दो विशेष अनुसूचियां हैं। इन सभी का प्रयास आदिवासियों को सभी प्रकार के सामाजिक अन्याय और शोषण से बचाना है।

2) पिछले कुछ दशकों में संस्कृतीकरण के जरिए प्रभावी संस्कृति का अनुकरण विभिन्न जनजातियों में देखा गया। मगर इससे उनकी भौतिक दशा में कोई सुधार नहीं आया। हालिया अध्ययन हमें आदिवासियों में कृषक समाज के लक्षण बताते हैं। मगर इस दृष्टिकोण को तर्कसंगत नहीं माना जाता है कि जनजातियां एकल हित समूह हैं। मार्क्सवादी चिंतकों के अनुसार जनजातियों में भूमि स्वामित्व बड़ा विषय है। उनमें एक शिक्षित संपन्न अभिजात वर्ग भी मौजूद है जो वृहत्तर पूंजीवादी क्षेत्र से जुड़ा है। दोनों के शासक वर्ग के अंतर्विरोध हैं तो उनका गठजोड़ भी हैं। यही उनका भविष्य तय करेगा।